



विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/निःशुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujain@gmail.com

vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujain.com

विभिन्न नाम धारण करने वाली उज्जयिनी

रितु मिश्र

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

विभिन्न नाम धारण करने वाली उज्जयिनी
रितु मिश्र

पृष्ठ क्र. 3-4

दक्षिण के संत कवियों की भक्ती धारा
कुमार वासुदेव

पृष्ठ क्र. 5-6

भारत की संस्कृति और उसकी परंपरा
वीरेन्द्र कुमार रस्तोगी

पृष्ठ क्र. 7

सुबन्धु, दण्डी और बाण का श्रृंगार काव्य
चंद्रशेखर अवरस्थी

पृष्ठ क्र. 8

महाकवि रचित महाकुल महागाथा
मिथिलेश यादव

प्राचीन भारत के प्रमुख राजनीतिक और धार्मिक केंद्रों में उज्जयिनी का विशिष्ट स्थान था। इसी कारण इस नगरी ने विभिन्न कालों में विभिन्न नामों को धारण किया। प्रायः प्राचीन संस्कृति में नगरों के से दो अधिक नाम नहीं मिलते, परंतु महाकाल की पुण्यभूमि उज्जयिनी अपने विभिन्न नामों के कारण एक अनूठी विशेषता रखती है। उज्जयिनी के विभिन्न नामों में प्रमुख नाम ये हैं— कनकश्रृंगा, कुशस्थली, अवन्तिका, पद्मावती, कुमुद्वती, प्रतिकल्पा, अमरावती और विशाला। कहीं-कहीं अम्बिका, हिरण्यवती और भोगवती ये नाम भी मिलते हैं। स्कन्दपुराण के अवन्ति खंड में इन नामों के कारणों का उल्लेख कथाओं द्वारा किया गया है।

कनकश्रृंगा— स्कन्द पुराण अवन्ति खंड के अध्याय चालीस में कनकश्रृंगा नाम से संबंधित कथा है, जो इस प्रकार है— सुवर्णमय शिखरों वाली इस नगरी में अधिष्ठित जगतसृष्टा विष्णु को शिव तथा ब्रह्मा ने प्रणाम किया। उन्होंने विष्णु से इस नगरी में निवास करने के लिए स्थाबन की प्रार्थना की। विष्णु ने इस नगरी के उत्तर में ब्रह्मा को तथा दक्षिण में शिव को अधिष्ठित होने के लिए स्थान दिया और इस प्रकार यह नगरी ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों देवताओं का केंद्र स्थान बन गयी। ब्रह्मा ने इस नगरी को कनकवर्ण के श्रृंगों वाली कहा था अतएव इसका नाम कनकश्रृंगा हो गया। कालांतर में कालिदास और बाणभट्ट ने भी अपने काव्यों में यहाँ के उत्तुंग विशाल और ऐश्वर्यपूर्ण प्रासादों का चित्रण किया है।

कुशस्थली— इस नाम से संबंधित कथा स्कन्द पुराण अवन्ति खंड के अनुसार इस प्रकार है— ब्रह्मा ने संपूर्ण सृष्टि का निर्माण किया तब सृष्टि की रक्षा का कार्य विष्णु पर आया, क्योंकि विष्णु जगत के पालनकर्ता हैं। इस संपूर्ण संसार में विष्णु को अधिष्ठित करने के लिए यह स्थान ही ब्रह्मा को उपयुक्त लगा। ब्रह्मा ने इस पवित्र स्थान को कुशों से आच्छादित कर दिया और विष्णु से वहाँ प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की। इस प्रकार कुशों से आच्छादित किए जाने के कारण इसका नाम कुशस्थली हो गया। 'कुश' पवित्र घास को कहा जाता है जिसका प्रयोग देवताओं और ऋषियों के आसन के लिए किया जाता है। संभवतः इस क्षेत्र की पवित्रता और देवताओं का अधिष्ठान प्रकट करने के लिए ही कुशस्थली नाम पड़ा होगा।

अवन्तिका— स्कन्द पुराण के अवन्ति खंड में 'अवन्तिका' नाम पड़ने की कथा निम्नानुसार है— पूर्व समय में दैत्यों और देवताओं में युद्ध हुआ। इस युद्ध में देवता पराजित हो गए, तब पराजित देवों ने मेरु पर्वत पर स्थित विष्णु के पास आश्रय लिया। विष्णु ने उन्हें शक्ति एवं अक्षय पुण्य प्राप्त करके कुशस्थली नगरी में जाकर रहने को कहा। महाकाल वन में स्थित यह नगरी समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली है। यहाँ प्रत्येक कल्प में देवता, तीर्थ, औषधि, बीज तथा संपूर्ण प्राणियों का पालन होता है। यह पुरी सबका रक्षण करने में समर्थ है। यह पापों से रक्षा करती है अतः इसका नाम इस काल से (अवन्तिका) अवन्ति नगरी हो गया है। 'अव'—रक्षणे धातु रक्षा करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है अतः 'अवन्तिका' का अर्थ है— रक्षा करने में समर्थ। उज्जयिनी के समस्त नामों में 'अवन्ती' नाम ने अधिक प्रसिद्धि पायी। संस्कृत, पाली और प्राकृत साहित्यिक ग्रंथों में उज्जयिनी के साथ ही इस नाम का उल्लेख मिलता है। पौराणिक इतिहास के अनुसार हैहयों की शाखा अवन्तियों ने इस राज्य की स्थापना की और इसी कारण उनकी स्मृति में इसका नाम अवन्ती हो गया।

उज्जयिनी— एक समय दैत्यराज त्रिपुर ने अपने असाध्य तप के द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न कर लिया। त्रिपुर से प्रसन्न ब्रह्मा ने उसे देव, दानव, गंधर्व, पिशाच, राक्षस आदि से अवध्यता का वरदान दे दिया। वर से संतुष्ट त्रिपुर ने ब्राह्मणों, ऋषियों और देवताओं का संहार करना आरंभ कर दिया। इससे

समस्त देव उससे भयभीत हो गए तथा वे सभी शिव के पास गए। उन्होंने शिव से रक्षा के लिए प्रार्थना की, तब शिव ने त्रिपुरासुर से अवन्ती क्षेत्र में भयंकर युद्ध किया। उन्होंने अवन्ती नगरी में अपने पाशुपत अस्त्र से त्रिपुरासुर के तीन टुकड़े कर उसे मार डाला। देवसेवित इस अवन्ती में त्रिपुरासुर उत्कर्षपूर्वक जीता गया। अतएव देवताओं और ऋषियों ने इसका नाम उज्जयिनी रख दिया। 'उज्जयिनी' का शब्दशः अर्थ है— उत्कर्षपूर्ण



विजय। इस नगरी का 'उज्जयिनी' नाम ही अधिक प्रचलित है। पाली और प्राकृत ग्रंथों में भी इस नाम का बहुलता के साथ उल्लेख है। संस्कृत साहित्य के सभी कवियों ने अपने ग्रंथों में प्रायः 'उज्जयिनी' नाम का प्रयोग किया है। आधुनिक युग में भी यही नाम अधिक प्रचलित है।

पद्मावती— पद्मावती नाम की कथा इस प्रकार है— समुद्र मंथन के उपरांत प्राप्त रत्नों का वितरण इसी पावन स्थली में हुआ। देवताओं को यहीं पर रत्न प्राप्त हुए थे। रत्न प्राप्त कर देवताओं ने कहा कि इस उज्जयिनी में हम सब रत्नों के भोगी हुए हैं अतः पद्मा अर्थात् लक्ष्मी यहाँ सदैव निश्चल निवास करेंगी और तभी से इसका नाम 'पद्मावती' हो गया। यहाँ की भव्य समृद्धि का वर्णन ब्रह्म पुराण, स्कन्द पुराण तथा कालिदास, बाणभट्ट, शूद्रक आदि के काव्य, नाटकों तथा पाली एवं प्राकृत ग्रंथों में मिलता है। इस नगरी की धन-धान्य में समृद्धि के कारण ही इसका नाम संभवतः 'पद्मावती' हो गया होगा।

कुमुदवती— कुमुदवती नाम की कथा स्कन्द पुराण में इस प्रकार है— जब लोमश ऋषि तीर्थयात्रा करते हुए पद्मावती नगरी में पहुँचे, तब उन्होंने यहाँ के सरोवर, तड़ाग, पल्लव, नदी आदि जलपूरित स्थलों को कुमुदिनी तथा कमलों से परिपूर्ण देखा। यहाँ पर समुद्र मंथन से प्राप्त दुर्लभ रत्नादि हैं। जो-जो भी इस संसार में दिव्य और अलौकिक वस्तुएँ हैं, वे सभी इस

महाकाल वन में प्राप्य हैं। समस्त देवता इस वन में प्रतिष्ठित हैं। यहाँ के नर-नारी भी देवताओं के समान हैं। संपूर्ण देवताओं के निवास के कारण यह नगरी अमरावती के नाम से प्रसिद्ध हो गयी।

विशाला— महादेव ने पार्वती की इच्छानुसार इस विशाल पुरी का निर्माण किया और कहा कि यह नगरी समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली होगी। इसमें पुण्यात्मा, देवर्षि तथा महर्षिजनों का निवास होगा। यहाँ सभी प्रकार के पशु-पक्षियों तथा पुष्पों एवं फलों से युक्त उपवन एवं स्वर्ण, मणि तथा मुक्ताओं से गुम्फित तोरणद्वार वाले विशाल प्रासाद होंगे। इस प्रकार यह नगरी हर प्रकार की समृद्धि और वैभव से युक्त हो गयी तथा विशाला नाम से प्रख्यात हुई। 'विशाला बहुविस्तीर्णा पुण्या पुण्यजनाश्रया' से स्पष्ट है कि यह अन्य नगरियों की अपेक्षा विस्तीर्ण थी। 'कल्प' से तात्पर्य यह दिया गया है कि ब्रह्मा के दिव्य सहस्र युग का एक दिन कल्प कहलाता है। इस महाकाल वन में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों निवास करते हैं। प्रत्येक कल्प में सृष्टि का आरंभ यहीं से होता है। वामन,

वाराह, विष्णु और पितरों आदि के जो भिन्न-भिन्न कल्प कहे गए हैं, वे सभी यहीं से प्रारंभ हुए। भोगवती और हिरण्यवती— इन दोनों नामों का समावेश भी उपर्युक्त नामों के अंतर्गत हो जाता है। समस्त प्रकार के भोगों से युक्त होने के कारण भोगवती और सुवर्ण की अधिकता से हिरण्यवती। इन दोनों नामों का समावेश अमरावती, विशाला एवं कनकश्रृंगा नाम में किया जाता है। उपर्युक्त समस्त नाम उज्जयिनी की पृथक-पृथक विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हैं। कनकश्रृंगा नाम यहाँ पर स्थित ऊँचे-ऊँचे रत्नमणि-मुक्तामंडित तोरणद्वारों से सुशोभित प्रासादों का बोध कराता है। कुशस्थली नाम यहाँ की पवित्रता और प्रमुख देवताओं की स्थिति का बोध कराता है। अवन्तिका नाम सबके पालन की सुव्यवस्था और सुरक्षा का बोध कराता है। शत्रुओं और असुरों पर की गयी विजय की स्मृति उज्जयिनी नाम से होती है। इस नाम से यहाँ के योद्धाओं के असीम पराक्रम का भी बोध होता है। पद्मावती नाम श्रीसंपन्नता और वैभव का परिचय देता है। कुमुदवती नाम यहाँ के नैसर्गिक सौन्दर्य और रमणीय प्रकृति का बोधक है। महाकाल वन, क्षेत्र, पीठ, देवों के विशाल मंदिर आदि देवताओं के निवास स्थान के रूप में इसके अमरावती नाम की सार्थकता है। विशाला नाम इस क्षेत्र की विस्तीर्णता के साथ श्री और संपन्नता का बोध कराता है। प्रतिकल्पा नाम इस पुरी की अचल स्थिति को सूचित करता है।

दक्षिण के संत कवियों की भक्ती धारा

कुमार वासुदेव

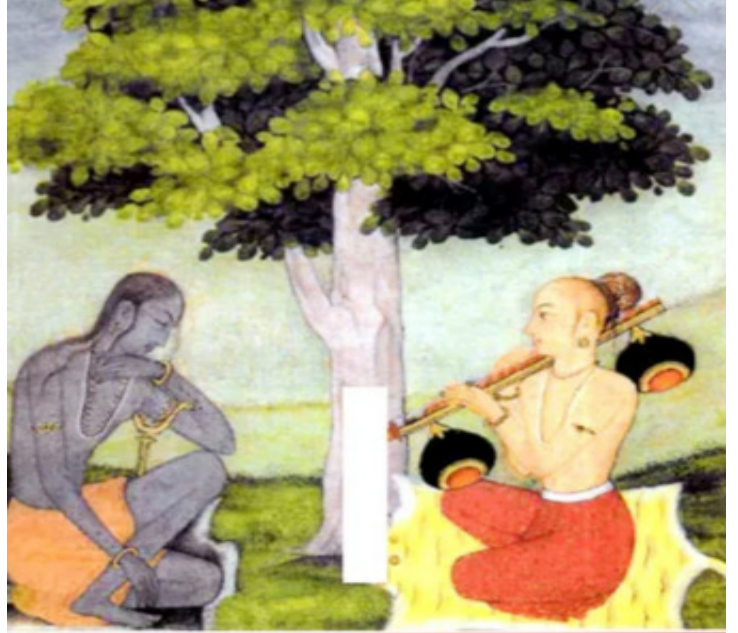
भारत में भक्ति की भावधारा भारतीय जनता की प्राणदायिनी शक्ति बनकर समय-समय पर उसको उद्बोधित एवं प्रेरित करती है। 10वीं और 12वीं शती ई. में जबकि समस्त कतर भारत और सुदूर-दक्षिण तक महमूद गजनवी और सुबुचितीन गोरी के आक्रमणों से जनता त्रस्त, भयभीत और आत्मरक्षा के लिए कृत श्री. दक्षिण भारत में चोलों के शासन (9वीं से 12वीं श.) में भक्ति की एक नयी धारा का उदय हुआ, जिसके नेता थे नम्मालवार। वे पोडूहे, पूदत्त तथा पे आडि आलवार सजनीकों की उस परम्परा के अन्तिम केन्द्र-बिन्दु थे, जिन्होंने सारे क्षेत्र में धूम-धूमकर अपने हृदयग्राही भजनों के गायन से जनता को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया हुआ था। दक्षिण में, विशेषतः वर्तमान तमिलनाडु में वैष्णव और शैव मतों के अनुयायी अनेक भक्त गायकों का उदय हुआ, जो वैष्णव तथा शाक मन्दिरों में मण्डलियों बनाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भगवान् की लीलाओं को गा-गाकर अपने उपास्य के प्रति अपनी अगाध भक्ति का परिचय देते रहे। उनमें समाज के सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे उनके भजनों का आधार 'रामायण', 'महाभारत' और 'पुराण' थे।

आलवार भक्तों की यह परम्परा लगभग 7वीं शती ई. से आरम्भ हुई थी। उन्होंने अपनी कोमल रससिक्त प्रेममयी वाणी द्वारा जनता में एक ऐसी सगुण ईश्वर-भक्ति का प्रचार किया, जो अत्यन्त कृपालु और दया का सागर है और जिसके अनुग्रह को केवल प्रेम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। दक्षिण का यह भक्ति-आन्दोलन जातीय तथा क्षेत्रीय संकीर्णताओं से ऊपर उठकर वस्तुतः एक ऐसे सर्वजनीन मानवीय धर्म के रूप में विश्रुत हुआ, जिसमें ब्राह्मण धर्म, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड और वर्ण-व्यवस्था के प्रतिबन्ध नहीं थे। उसमें छोटे-बड़े, घनी-निर्धन और अनपढ़ पढ़े-लिखों की विषमताएँ नहीं थीं। उन्होंने मनुष्य मात्र को समान दर्जा दिया और सभी को परमेश्वर की दया प्राप्त करने का समान अधिकारी बताया।

सन्त नम्मालवार ने अपने तितविरुत्तम् नामक पन्च में तथा पेरिया और गोदा आदि आलवार भजनों के पदों में मानव के प्रति भगवान की इसी दक-अनुकम्पा का गुणगान किया गया है। उनके बाद उनके शिष्य नाथमुनि (10वीं ई.) ने आलवार सन्तों के भजनों का एक संग्रह संकलित किया। इन भजनों को आज भी वहाँ के मन्दिरों में बड़ी निष्पक्षता एवं तन्मयता से गया जाता है। मतप्रवर नाथमुनि के बाद उनके पुत्र यामुनाचार्य हुए जो कि विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके मत का व्यापक प्रवर्तन उनके अनुज प्रसिद्ध

वैभवाचार्य रामानुज ने किया। उन्होंने सर्वप्रथम परम्पागत धार्मिक रूढ़ियों को भी उदार बनाया। उन्होंने मंदिरों की पूजा विधि में नया सुधार किया और यह व्यवस्था दी कि वर्ष में एक दिन मन्दिरों को अन्त्यजों के प्रवेश के लिए खोल दिया जाय। रामानुज के इस धार्मिक औदार्य का व्यापक प्रभाव पड़ा। ये सभी सन्त बोल शासकों के समय हुए, जो कि स्वयं भी उदार तथा सहिष्णु थे।

दक्षिण भारत में आलवारों का भक्ति-आन्दोलन वस्तुतः परम्पागत वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप था। 10वीं शती



के लगभग प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्र काँची में भागवत की रचना हो जाने के बाद आलवार धर्म का भागवत धर्म में विलय हो गया। इस प्रकार दक्षिण से भक्ति की जो भावधारा बही उसने न केवल संकटग्रस्त भारतीय धर्म के हास को बचाया, अपितु उससे साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। इस नये समन्वित धार्मिक आन्दोलन के प्रभाव से वैष्णव शाक्त, जैन और बौद्ध धर्मों में जो अलगाव तथा पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना का भाव था, वह भी दूर हो गया। मध्ययुगीन भारत में इस नये धार्मिक समन्वय का नेतृत्व किया रामानुजाचार्य (1027-1137 ई.) के विशिष्टाद्वैतवादश ने। वे गृहस्थ से संन्यासी हो गये थे। उनसे पूर्व दक्षिण में आलवार भक्तों ने तमिल भाषा में भक्ति का प्रचार-प्रसार किया था। रामानुज ने उपनिषद् गीता और ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तों से उसको अधिक गहन तथा मान्य बना दिया। इस प्रकार आलवार भक्ति-परम्परा में प्रस्थानत्रयी के सहित तमिल प्रबन्धों को भी उभय वेदान्त के नाम से कहा गया। रामानुज ने



महाभारत के पाँच रात्र मत का विकासकर वैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की और उसे भागवत की कृष्णनक्ति के साथ समन्वित करके सर्व सहज बना दिया। रामानुज का यह विशिष्टाद्वैत वस्तुतः शंकराचार्य के दुरुह अद्वैत का सामाजिक सामान्यीकरण था, जिसका दक्षिण से उत्तर की ओर बड़ी त्वरित गति से प्रसार-प्रसार हुआ। शंकर और रामानुज ने जिस धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया उसमें कुछ अन्तर है।

ब्रह्मसूत्र की विष्णुपरक व्याख्या करनेवाले प्रथम विद्वान यामुनाचार्य हुए और तदनन्तर रामानुजाचार्य ने उसको व्यापकता प्रदान की। उन्होंने ही सर्वप्रथम दार्शनिक विचारों द्वारा वैष्णव धर्म की लोकप्रियता को बढ़ाया। शंकराचार्य का ब्रह्म अद्वैत है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। किन्तु रामानुज के मत से ब्रह्म वह है, जिसमें अन्य पदार्थ भी समन्वित हैं और जो उसी के द्वारा बृहत् होते हैं। रामानुज के अनुसार ब्रह्म, चिन्मय आत्मा और जड़ प्रकृति दोनों ने विद्यमान है, किन्तु वह उन दोनों से विशिष्ट है। आत्मा (जीव) और प्रकृति इन दोनों पदार्थों से अद्वैत, किन्तु दोनों से विशिष्ट होने के कारण रामानुज ब्रह्म का विशिष्टाद्वैत स्वीकार करते हैं। उनका ब्रह्म, जगत् में व्याप्त है और उससे पर भी है। वह अपनी इच्छाशक्ति से जगत् को उत्पन्न करता है। यह उपासना का विषय है और धार्मिक साधना का लक्ष्य भी। शंकराचार्य की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अतः समस्त जगत् और जागतिक प्रपञ्च सब मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुज जगत् को मिथ्या बताये बिना अद्वैत ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके मत में ब्रह्म एक है और उसमें आनन्द स्वरूप ईश्वर, चेतन आत्मा और जड़ प्रकृति के पदार्थ हैं, जो सम्बन्ध आत्मा का शरीर से है वही सम्बन्ध ईश्वर का आत्मा तथा प्रवृत्ति से है। जिसे हम ब्रह्म कहते हैं, वह ईश्वर से भिन्न नहीं है। रामानुज के सहा से आत्मा, प्रकृति और ईश्वर, इन तीनों की समष्टि का नाम ही ब्रह्मा है। शंकर ने ऐसे ब्रह्म का निरूपण किया है, जो शुद्ध एकाकी, निर्विकार और अमूर्त है। वह स्वयं निर्गुण है। अतः उसमें मनुष्य की दुर्बलताओं को दूर करने के कोई उपाय नहीं है। इसके विपरीत रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म को प्रननाय और उसे मनुष्य की दुर्बलताओं को दूर करनेवाला शिवमय और सुन्दरतम कहा गया है। उसे प्रेम, सेवा और सहयोग से प्राप्त किया जा सकता है।

रामानुज ने धर्मानुशासित जीवन से ही ईश्वरानुग्रह की उपलब्धि बतायी है। उसमें कर्मों के प्रतिफल का प्रावधान होने के कारण सामाजिक जीवन में कर्मनिष्ठा को बल मिला और उससे पारस्परिक अनुराग-प्रेम का भाव उत्पन्न होकर मनुष्य का नैतिक स्तर उन्नत हुआ। इस प्रकार रामानुज ने शंकर के अद्वैत को लोक सहज बनाकर ऐसे नये धार्मिक पंथ को जन्म दिया, जिसने पारस्परिक प्रीति एवं मैत्री की प्रधानता है। उन्होंने शंकर वेदान्त का खण्डन करके सगुण भक्ति को ही मोक्षप्राप्ति का सर्वोत्तम एवं सर्व सुलभ मार्ग बताया। रामानुज ने शंकराचार्य की भाँति अपने मत के प्रचार के लिए दक्षिण तथा उत्तर भारत के ऐतिहासिक, धार्मिक स्थलों, ज्ञान केन्द्रों और

नगरों का परिभ्रमण कर तत्कालीन दार्शनिकों से शास्त्रार्थ कर विरोधियों को पराजित किया और अपर सर्वग्राह्य लोकधर्म की प्रतिष्ठा की। उन्होंने शंकराचार्य की ही भाँति अनेक मठ-मन्दिरों तथा ज्ञान-केन्द्रों की स्थापना की और वहाँ सुयोग्य व्यक्तियों से नियुक्तिकर उनके द्वारा सामाजिक विषमताओं तथा धार्मिक संकीर्णताओं को दूर करने का देशव्यापी आन्दोलन चलाया।

कहा जाता है कि उन्होंने एक मुस्लिम महिला से विवाह कर दोनों धर्मों में एकता स्थापित करने का सराहनीय कार्य किया था। अपने शिष्यों में उन्होंने ब्राह्मणातिरिक्त निम्न जातियों के लोगों को ही स्वीकार किया। श्रीरंगपट्टम् के मालीकोट मन्दिर में उन्होंने अन्त्यजों को पूजा का अधिकार दिया। इस प्रकार एक आध्यात्मिक नेता के रूप में आचार्य रामानुज मध्ययुगीन भारत का सफल नेतृत्व किया। रामानुजाचार्य के बाद उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उनके उदार धार्मिक विचारों का अधिक प्रभावशाली ढंग पर प्रचार-प्रसार किया। उनके प्रमुख अनुयायियों में मध्वाचार्य (13वीं शती), निम्बार्काचार्य (1वीं शती), लोकाचार्य, (13वीं शती), वेदान्तदेशिक (14वीं शती), देवराजाचार्य (14वीं शती) और वरदाचार्य (14वीं शती) आदि का नाम उल्लेखनीय है। रामानुज और उनके अनुयायियों द्वारा वैचारिक तथा सामाजिक उदारता के बावजूद विरोधी के धर्मद्रोह की भावना में कमी नहीं आयी थी। उनके कल्यात दक्षिण तक प्रचारित हो चुके थे। उनके द्वारा लूट-पाट ध्वंस-लीला और अत्याचारों की निरन्तर वृद्धि हो रही थी। यह स्थिति सारे भारत में व्याप्त हो गयी थी। अनेक लोगों को प्राणों के लिए घर छोड़ने को विवश होना पड़ा। ठीक इसी धर्महीत के विनाशकारी समय में दक्षिण भारत में एक नयी ज्योति का आविर्भाव हुआ जिसका नाम था रामानन्द (1299-1410 ई.)। उन्होंने तत्कालीन देशव्यापी सामाजिक, परिस्थिति की निकटता और देश की निरन्तर बिगड़ती हुई दशा को देखकर रामानुज द्वारा प्रवर्तित धर्म को अति उदार और सर्वसहज बनाया। विरोधी धर्मानुयायियों द्वारा जो धार्मिक संकीर्णता, वर्गवाद और जातीय अहम्मन्यता का विष वमन किया जा रहा था और जिसके फलस्वरूप असहाय हिन्दू जनता प्राणरक्षा के लिए कोई उपाय न देखकर धर्म-परिवर्तन करने तक को उद्यत थी, आचार्य रामानन्द ने सर्व-धर्म-समन्वय का अपना नया अभियान मलाया और उसके अन्तर्गत सभी जातियों, धर्मों तथा मतों के लोगों को सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य की भाँति रामानन्द ने भी सारे देश का भ्रमण किया और परम्परागत वैदिक व्यवस्था के प्रबल समर्थक विजय-नगर के प्रसिद्ध विद्वान् मध्वाचार्य, बंगाल के प्रसिद्ध मीमांसक कुल्लुक भट्ट और मिथिला विद्वान चंदेश्वर प्रभृति सम-सामयिक धर्माचार्यों के विचारों का प्रकाण्ड विरोध किया। उत्तर और पूर्वी भारत के अनेक नगरों में उन्होंने सभाएँ आयोजित करके बौद्ध तन्त्रवाद की प्रबल आलोचना की और बौद्ध तान्त्रिकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उनका यह धार्मिक आन्दोलन दक्षिण तथा उत्तर का सेतु बनकर समस्त भारत में व्याप्त हुआ।

भारत की संस्कृति और उसकी परंपरा

वीरेन्द्र कुमार रस्तोगी

भारत प्राचीन काल से ही विभिन्न कबीलों तथा जातियों का केन्द्र रहा है। यहाँ की पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ और प्रथाएँ भिन्न-भिन्न रही हैं। इस दृष्टि से यहाँ के सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि अपने-आप में सर्वथा स्वतंत्र रूप में परिवर्तित होती रही है। इस विषय पर अनेक विद्वानों ने अपने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये हैं। वर्तमान सन्दर्भों में भारत की सांस्कृतिक अवधारणा के आधार पुराने मान-मूल्यों के साक्ष्यों पर निर्धारित नहीं किये जा सकते हैं, क्योंकि इस दिशा की नयी खोजों ने उन्हें प्रायः प्रभावहीन एवं निरर्थक सिद्ध कर दिया है। उसके अनेक कारण विद्यमान हैं। उनमें परिवर्तित आर्थिक वातावरण, नयी औद्योगिक व्यवस्था और कृषि उन्नति प्रमुख रूप से प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं। वर्तमान समाज इन भौतिक समस्याओं का सम्पूर्ण हल ढूँढ कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके यदि अपने को सुखी नहीं बना लेता, तो उसके अतीत की समस्त समुन्नतियाँ तथा गौरव गाथाएँ प्रायः प्रयोजनहीन हो जाती हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि भारत में कुछ वर्षों पूर्व जिस औद्योगीकरण का उदय हुआ, वह पूर्व निश्चित अथवा परम्परागत कार्यक्रमों पर आधारित या अवलम्बित नहीं था और इसीलिए उनका सम्बन्ध हमारे बाह्य संतोष तक ही सीमित रहा, उनके द्वारा मूलभूत स्थायी समस्याओं का समाधान या निराकरण न हो। ऐसा होने का कारण यह था कि जो बहुसंख्यक श्रमिक जनता विभिन्न उद्योगों में लगी हुई थी, उनसे उसका सीधा सम्बन्ध नहीं था। वे उन समस्त सुविधाओं से वंचित थे, जिनसे कि वे अपनी पारिवारिक खुशहालियों का अनुभव कर सकते और अपनी सामाजिक अपूर्णता को पूरी कर सकते।

भारतीय श्रमिक जीवन के इस विषमीकरण से उत्पन्न आर्थिक निष्क्रियता को आधुनिक राजनीतिक चेतना ने प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप एक नवीन दृष्टि का विकास सम्भव हुआ। उससे नयी सामाजिक कल्याण की भूमिका तैयार हुई और संस्कृति के इस पुनरुद्धारवाद ने नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। अतीत के अनुभवों एवं परिणाम यह समाज की सम-सामयिक भौतिक समस्याओं का समाधान हुए बिना औद्योगिक तथा कृषिजन्य प्रगति समान नहीं है। मनुष्य ने पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के कारणों का आविष्कार किया किन्तु आज के मनुष्य की भाँति वह उनका वास नहीं बना। अपने औजारी यानी निर्माण उसने पहले पत्थर से और फिर जंगलों में लोहे की खानी से कच्चा माल प्राप्त करके किया। इन्हीं के द्वारा उसने

शिकार करने मछली मारने, कड़ी काटने, बर्तन बनाने, लकड़ी का सामान तैयार करने आदि विभिन्न कार्य सम्पादित कर उसके चरण निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर होते रहे। वनस्पतियों, पेड़ों की छालों का इस्तेमाल किया गया साथ ही उसने अपने लिए पानी पीने, अनाज भरने, रस्सियाँ बटने और झोपड़ियों बनाने का कार्य किया। बाँसों से उसने चटाइयाँ तथा टोकरियों बनायी। बाँस की खोज आदिम मनुष्य के लिए प्रगतिदायक सिद्ध हुई। उसने उसका समस्त जीवन-स्तर ही परिवर्तित कर दिया। बाँस के परस्परधर्षण से आग पैदा की। अब तक वह आग के अभाव



में बिना माँस पकाये ही पेट भर रहा था। आग पैदा हो जाने के बाद उसे माँस पकाने में सुविधा हुई। आग की उत्पत्ति से मनुष्य की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के द्वार खोले। धीरे-धीरे जंगली पशुओं की खालों को निकाल कर उसने उनकी धौकनियों बनायीं और उनकी सहायता से भट्टियों पर धातुओं को गलाकर नये-नये अधिक उपयोगी औजार निर्मित किये। जब उसने कृषि युग में प्रवेश किया तो ये औजार उसके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। आग की सहायता से मनुष्य ने अपने लिए नये-नये आभूषणों का निर्माण किया। कच्चे महूवे तथा अन्य वनस्पतियों का अर्क निकाल कर उसने अपने लिए शराब तैयार की। इस प्रकार की आर्थिक उन्नति ने आदिम अन्य मनुष्य में सामाजिक आदतों का निर्माण कर उसको उत्तरोत्तर सुसम्य बनाने में मदद की। आग की उपलब्धियों से कृषि-जीवन की उन्नति के नये खोजे गये। आग की सहायता से मनुष्य ने जंगलों को जलाकर उन्हें कृषि योग्य बनाया। आदिम कूकी जाति के लोगों में आज भी यह प्रथा प्रचलित है कि जंगलों से कृषियोग्य भूमि बनाते समय वे बीच में एक पेड़ को सुरक्षित रखते हैं। उस क्षेत्र में कृषि व उपज होने पर वे उस झुलसे हुए पेड़ को पूर्वजों की प्रेतात्मा का प्रतीक मान कर अनाज की प्रथम

उपज से समारोह के साथ उसकी पूजा करते हैं। नया खेत बनाते समय वहाँ जंगल की देवी माता की भी स्थापना की जाती है और उसके सम्मान में नृत्य-गान का आयोजन किया जाता है। पहले कुछ बीज देवी माता को अर्पित किये जाते हैं। इस प्रकार समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हुए बिना आर्थिक, औद्योगिक और कृषिजन्य प्रगति सम्भव नहीं है, और इसलिए तब तक एक समुन्नत, सम्पन्न संस्कृति के उदय की आशा करना सर्वथा असम्भव है। भारत का सांस्कृतिक विकास, भारतवासियों की विभिन्नता के अनुरूप अनेक रूपों में हुआ। सांस्कृतिक विकास की परम्परा को दृष्टि में रखकर प्रायः यह निश्चित है कि एक जाति की संस्कृति के निर्माण में जो कारण तथा प्रयोजन विद्यमान रहे हैं, दूसरी जाति के सांस्कृतिक निर्माण में ठीक वे ही कारण तथा प्रयोजन विद्यमान नहीं रहे हैं। संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने तथा उसे परिभाषित करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से अपने-अपने अभिमत प्रकट किये हैं। मत-मतान्तरों का यह वैविध्य इसलिए भी सम्भव और स्वाभाविक दिखायी देता है कि संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और गहन है। उसकी इस व्यापकता को दृष्टि में रखकर उसको किसी परिभावा में बाँधना कदाचित् अत्यन्त कठिन है। सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि समस्त मानव समाज के विकास की व्यष्टिमय तथा समष्टिमय उपलब्धियों ही संस्कृति हैं।

यह संस्कृति शब्द अपने आप में अधिक प्राचीन नहीं हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह आधुनिक युग की देन है। इस दृष्टि से उसका अधिक महत्व बढ़ गया कि आधुनिक युग के समस्त भारतीय साहित्य में उसको व्यापक दृष्टि से अपनाया गया और इसीलिए आधुनिक युग के विद्वानों द्वारा ही उस पर विचार हुआ। यदि उसकी व्युत्पत्ति की दृष्टि से उस पर विचार किया जाय तो 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'संस्कृति' पद निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर संस्कृति पद उस अर्थ का द्योतक है, जो समस्त मानवता को विशेषता प्रदान करता है। मानवता को विशिष्ट बनाने वाले उसके आदर्श तथा उसकी परंपराएँ और मान्यताएँ हैं। जिन विद्वानों ने समस्त सीखे हुए व्यवहार को संस्कृति की संज्ञा दी है, उनका आशय भी यही प्रतीत होता है कि मनुष्य ने परम्परा द्वारा आचार-विचार और रहन-सहन की जिन मान्यताओं को ग्रहण तथा प्रशस्त किया, उन्हीं ने उसे सामान्य से विशिष्ट बनाया और इसलिए वे ही संस्कृति के मूल उपादान हैं। संस्कृति अर्थात् सम् = (उत्तम) कृति (चेष्टाएँ)। यदि संस्कृति का आशय उत्तम कृति (उपलब्धि) या सम्यक् चेष्टाएँ (अभिव्यक्तियों) है तो निश्चित ही उसका सम्बन्ध मनुष्य के शरीर, प्राण, मन बुद्धि आदि से है। इस दृष्टि से हमारी सर्वोत्तम उपलब्धियाँ या अभिव्यक्तियों श्रुति-स्मृति-पुराण आदि ही सिद्ध होती हैं। उनके निर्देश एवं विधान ही सम्यक् चेष्टाएँ हैं। अतः वे उत्तम अभिव्यक्तियों ही संस्कृति हैं, जिनके द्वारा मानवता को सतत ही विशिष्टता प्राप्त होती रही है-भौतिक भी और आध्यात्मिक भी। विशिष्टता प्रदान करने के कारण

संस्कृति आचार-विचारमूलक सिद्ध होती है। शुद्धाचार शुद्ध विचारों के जनक है। साहित्य और उसकी समस्त विधाएँ, यथा काव्य, नाटक, संगीत, कला आदि वाङ्मय की विभिन्न धाराएँ शुद्धाचार के ही प्रतिफल हैं। इस दृष्टि से समस्त ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल संस्कृति के व्यापक अन्तराल में समाहित हो जाते हैं। शुद्धाचार का रूपान्तर ही नैतिकता है। इसलिए केवल पढ़ा-लिखा तथा कलाप्रवीण व्यक्ति ही संस्कृत हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है।

इसी प्रकार अपढ़ और कला शून्य व्यक्ति ही असंस्कृत होता है। यह नियम भी आबाधित नहीं है। ऊपर शुद्धाचार की चर्चा की गयी है। वस्तुतः शुद्ध करने की क्रिया ही संस्कृति है। किसी स्थूल पदार्थ से सूक्ष्म तत्व निकालने के लिए जिस क्रिया को अपनाया जाता है। वही क्रिया संस्कृति है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार मिट्टी को संस्कृत करने से भास्वत् ताम्र मिल सकता है। वैसे ही मनुष्य जाति के स्थूल धातु से संस्कृति द्वारा उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्रादुर्भूत होते हैं। जिससे मानवता का संस्कार हो। ऐसी शिक्षा-दीक्षा, ऐसा रहन-सहन और ऐसी परम्पराएँ ही संस्कृति के उद्भावक हैं। संस्कृति एक सामाजिक विरासत है और वह संचय से विकसित होती है। भारतीय संस्कृति मानव संस्कृति के रूप में उभरी और विकसित हुई। इस संस्कृति की निर्माता और उसके उत्तराधिकार को वहन करने वाली जाति का इतिहास सदा जीवन्त और ज्वलन्त रहा है। उसके मूल निर्माता थे वैदिक ऋषि, जिन्होंने धर्म का, अर्थात् धर्मस्वरूप वेदमन्त्रों का साक्षात् किया और जिन्हें इसीलिए कवि नाम से कहा गया। उनके बाद वे ऋषि हुए जिन्होंने साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से उपदेश द्वारा परम्परागत ज्ञान की विरासत को प्राप्त किया। ये श्रुतार्थि कहलाये और समस्त ब्राह्मण तथा आरण्यक वाङ्मय उन्हीं की देन है। उनके बाद तीसरी कोटि के वे ऋषि हुए, जिन्होंने वेदों के यथार्थ बोध और ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों के विस्तार के लिए अंगस्वरूप छह स्वतन्त्र विद्याओं का प्रवर्तन किया, जिन्हें षड्वेदांग के नाम से कहा गया।

वैदिक ऋषियों की उक्त तीनों परम्पराओं ने अपने-अपने ढंग से संस्कृति के विकास में योगदान किया। श्रुतार्थियों ने परम्परागत कर्म और ज्ञान की विरासत को विकसित करने की दृष्टि से वैदिक धर्म को अधिक व्यापक तथा बहुजनबोधगम्य बनाने का कार्य किया। इस युग के ऋषियों की सांस्कृतिक देन यज्ञ-संस्था के रूप में प्रकाश में आयी। इस यज्ञ-संस्था ने समस्त वैदिक समाज को एक साथ संगठित किया और उनमें सामूहिक चेतना के भाव भरे। सामाजिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास-विस्तार के कारण अधिकारों-कर्तव्यों के पारस्परिक संघर्ष से बचाने तीसरे युग के ऋषियों ने एक ओर तो सूत्र-ग्रन्थों तथा स्मृतियों द्वारा वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की और दूसरी ओर सामाजिक नीति-नियमों को निर्धारण किया। इस युग में विभिन्न उद्योग-व्यवसायों और गृहशिल्पों की स्थापना होकर वैदिक समाज के आर्थिक विकास की नयी दिशाएँ खुलीं।

सुबन्धु, दण्डी और बाण का शृंगार काव्य

चंद्रशेखर अवस्थी

संस्कृत साहित्य में तीन महान् गद्यकार हुए— सुबन्धु, दण्डी और बाण। इन तीनों का स्थितिकाल प्रायः एक ही है—सातवीं शती के लगभग, अर्थात् हर्ष का शासनकाल। सुबन्धु की वासवदत्ता में राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रणय—कथा वर्णित है। 'वासवदत्ता' एक लम्बी कहानी, या कहना चाहिए एक लघु उपन्यास है। अपनी इस कृति में सुबन्धु ने तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण चिन्तामणि राजा के सन्दर्भ में किया है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन आचार—व्यवहार, संस्कृति और लोकाचारों का विस्तृत वर्णन सारिका तथा शुक्र द्वारा कही गयी कथा में किया गया है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन सामाजिक जीवन आर्थिक दृष्टि से उन्नत था। लोग कुबेर और वरुण के समान दानी थे, उदार तथा धनवान् थे। वे गन्धर्वों के समान प्रियभाषी और कामदेव के समान प्रियदर्शी थे। वे भरत और लक्ष्मण के समान प्रजापालक थे। धर्मों में उनकी पूर्ण निष्ठा और अतिथि सेवा में अभिरुचि थी। वे ज्ञानी, बहुज्ञ, काव्य—मर्मज्ञ और कलाविद थे।

वासवदत्ता स्वयम्बर में उपस्थित विभिन्न देशों के राजाओं तथा राजकुमारों की वेश—भूषा के रोचक वर्णन में तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। सुबन्धु की अपेक्षा दण्डी के 'दशकुमारचरित' में तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक स्थितियों का विशद वर्णन हुआ है। उसमें काँची, सुह्यदेश, अश्मकदेश, लाटदेश, कालपतनद्वीप, अंगदेश, अनगदेश, चम्पा, उज्जैन, श्रावस्ती और विदर्भ आदि भारत के विभिन्न अंचलों की सजीव सांस्कृतिक झाँकियों देखने को मिलती हैं। जिन राजकुमारों की रोचक कथाएँ उसमें निबद्ध हैं, वे भारत के विभिन्न जनपदों के प्रतिनिधि हैं और उनके द्वारा सामाजिक जीवन के वैविध्य को बड़ी निपुणता से अभिव्यजित किया गया है। उनमें राजा से लेकर रंक तक के रोचक चित्र अंकित हैं। ये कथाएँ राजदरबारों के वैविध्यपूर्ण वातावरण से लेकर जन—सामान्य तक के चरित्रों से सम्बद्ध हैं। स्त्रियों के मनोरंजन के साधनों में कलाकारिता का प्रमुख स्थान था।

कालिन्दवर्मा की पुत्री कल्पसुन्दरी को कला—कौशलों और शिल्पों का इतना अधिक शौक था कि अपने पति विकटवर्मा से उसकी सदैव इसलिए अनबन रहती थी कि न तो उसकी ललित कलाओं में अभिरुचि थी और न कविता, कहानी तथा नाटक आदि में उसका अनुराग था। इन कलाओं का निष्कर्ष शिक्षा या नीति में दिखाया गया है। दशकुमारचरित के प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त, विश्रुत, उपहारवर्मा, अपहारवर्मा, पुष्पोद्भव, अर्थपाल, सोमदत्त और राजवाहन आदि दस राजकुमारों की कलाओं से ज्ञात होता है कि वे विभिन्न लिपियों तथा देश—विदेश की अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। छह वेदांगों सहित चारों वेदों

का उन्होंने अध्ययन किया था। काव्य, नाटक, उपाख्यान, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, मीमांसा आदि विद्याओं में उनका सम्यक प्रवेश था। संगीत—शास्त्र की दृष्टि से उन्होंने वीणा, मृदंग आदि वाद्यों को बजाने में विशेष प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। रत्नों और मणियों की परख करना, मन्त्रविद्या का अभ्यास, औषध, चिकित्सा, मायाजाल, अनेक प्रकार के आश्चर्यों को दिखाना वे भली भाँति जानते थे। घुड़सवारी और मृगया में उनकी विशेष गति थी। राजा को सर्वगुण सम्पन्न होना अत्यावश्यक था। राजा पुण्यवर्मा की कथा में दण्डी ने सम्भवतः किसी समकालीन या आश्रित शासक का उल्लेख करते हुए बताया है कि वह धर्म का अवतार, पुण्यात्मा, बलशाली, सत्यवादी, दानी, विनम्र, अच्छी नसीहत देनेवाला, कृपालु, दर्शनीय, बुद्धिमान, धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवस्था देने वाला, लोकोपकारी, विद्वानों का प्रेमी, उदार, प्रजापालक, कला—कौशल—हुनर—दस्तकारियों का ज्ञाता, अर्थशास्त्रज्ञ, सन्धि—विग्रह आदि छह उपायों का युक्ति के साथ उपयोग करने वाला, ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य—शूद्र को उनके गुण—कर्मनुसार व्यवस्थित करने वाला, कुशल प्रशासक, दीर्घायु और श्रुतकीर्ति था।

इस प्रकार बाण के अतिरिक्त सुबन्धु और दण्डी की कथा कृतियों में हर्षयुगीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, कलात्मक, शैक्षिक और सांस्कृतिक स्थितियों का विशद रूप में वर्णन हुआ है। किंवदन्ती और सुभाषित के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ विश्रुत बतायी गयी हैं। प्रथम रचना 'काव्यादर्श' और दूसरी है 'दशकुमारचरित'। अधिकतर विद्वानों ने यह मान लिया है, परन्तु कुछ अन्य विद्वान इन दोनों को एक साहित्यकार की तरह न मानकर दण्डी नाम के दो भिन्न व्यक्तियों की रचना होने का अनुमान करते हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि काव्यशास्त्र के जिन मान्य सिद्धान्तों का 'काव्यादर्श' में प्रतिपादन और निर्देश मिलता है, 'दशकुमारचरित' में उसकी असंगति और विरोध दिखाई देता है।

अतः आचार्य और काव्यकार के सिद्धान्त और व्यवहार की असंगति एक नहीं दो भिन्न कृतिकारों का संकेत करती है। परन्तु अधिकतर विद्वानों के अनुसार उक्त असंगति का कारण यह मान लिया गया है कि अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भकाल में महाकवि ने 'दशकुमारचरित' की रचना की थी। 'काव्यादर्श' उस प्रौढ़ावस्था की रचना है जब दण्डी का शास्त्रीय वैदुष्य परिपक्व हो गया था। दशकुमारचरित पर सम्भवतः पैशाची भाषावाली गुणाढ्य की बृहत्कथा (बड्ढकहा) का प्रभाव पड़ा है। सम्भवतः इसी कारण 'दशकुमारचरित' पर लोककथाओं की कथारूढ़ियों का भी प्रभाव पड़ा है। कहानी में दूसरी, तीसरी आदि की शृंखला को जोड़ने का रचनाविधान भी यहाँ लक्षित होता है।

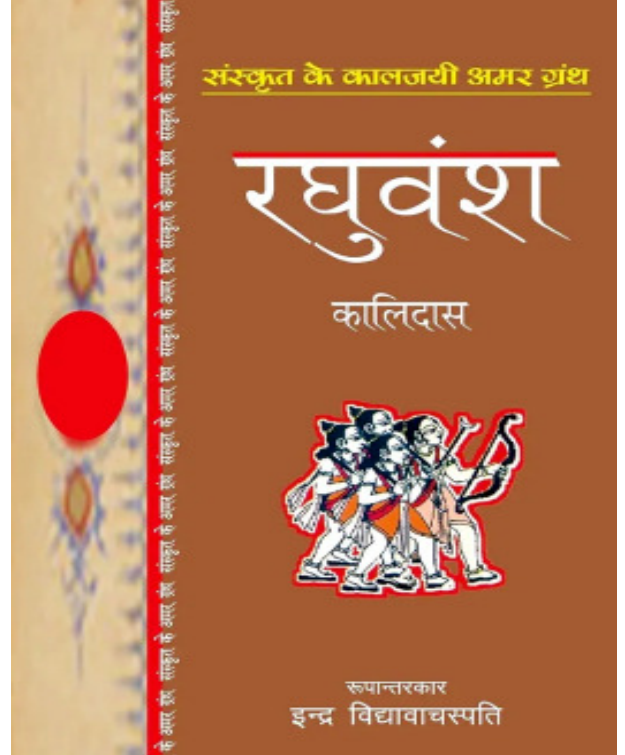
पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

महाकवि रचित महाकुल महागाथा

रघुवंश कालिदास द्वारा रचित संस्कृत महाकाव्य है। इस महाकाव्य में उन्नीस सर्गों में रघु के कुल में उत्पन्न उनतीस राजाओं का इक्कीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग करते हुए वर्णन किया गया है। इसमें दिलीप, रघु, दशरथ, राम, कुश और अतिथि का विशेष वर्णन किया गया है। वे सभी समाज में आदर्श स्थापित करने में सफल हुए। राम का इसमें विशद वर्णन किया गया है। उन्नीस में से छः सर्ग उनसे ही सम्बन्धित हैं। आदिकवि वाल्मीकि ने राम को नायक बनाकर अपनी रामायण रची, जिसका अनुसरण विश्व के कई कवियों और लेखकों ने अपनी-अपनी भाषा में किया और राम की कथा को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया। कालिदास ने राम की कथा रची परन्तु इस कथा में उन्होंने किसी एक पात्र को नायक के रूप में नहीं उभारा। उन्होंने अपनी कृति 'रघुवंश' में पूरे वंश की कथा रची, जो दिलीप से आरम्भ होती है और अग्निवर्ण पर समाप्त होती है।

रघुवंश काव्य में कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को निमित्त बनाकर उदारचरित पुरुषों का स्वभाव पाठकों के सम्मुख रखा है। इस कथा के माध्यम से कवि ने राजा के चरित्र, आदर्श तथा राजधर्म जैसे विषयों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। भारत के इतिहास में सूर्यवंश के इस अध्याय का वह अंश भी है जिसमें एक ओर यह संदेश है कि राजधर्म का निर्वाह करनेवाले राजा की कीर्ति और यश देश भर में फैलती है, तो दूसरी ओर चरित्रहीन राजा के कारण अपयश व वंश-पतन निश्चित है, भले ही वह किसी भी वंश का वंशज ही क्यों न रहा हो!

इस महाकाव्य के आरम्भ में महाकवि ने रघुकुल के राजाओं का महत्व एवं उनकी योग्यता का वर्णन करने के बहाने प्राणिमात्र के लिए कितने ही प्रकार के रमणीय उपदेश दिये हैं। रघुवंश की कथा दिलीप तृतीय(खटवांग) और उनकी पत्नी सुदक्षिणा के ऋषि विशिष्ट के आश्रम में प्रवेश से प्रारम्भ होती है। राजा दिलीप धनवान, गुणवान, बुद्धिमान और बलवान है, साथ ही धर्मपरायण भी। वे हर प्रकार से सम्पन्न हैं परन्तु कमी है तो सन्तान की। संतान प्राप्ति का आशीर्वाद पाने के लिए दिलीप को गोमाता नंदिनी की सेवा करने के लिए कहा जाता है। रोज की तरह नंदिनी जंगल में विचर रही है और दिलीप भी उसकी रखवाली के लिए साथ चलते हैं। इतने में एक सिंह नंदिनी को अपना भोजन बनाना चाहता है। दिलीप अपने आप को अर्पित कर सिंह से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें वह अपना आहार बनाये। सिंह प्रार्थना स्वीकार कर लेता है और उन्हें मारने के लिए झपटता है। इस छलांग के साथ ही सिंह ओझल हो जाता है। तब नंदिनी बताती है कि उसी ने दिलीप की परीक्षा लेने के लिए



यह मायाजाल रचा था। नंदिनी दिलीप की सेवा से प्रसन्न होकर पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद देती है। राजा दिलीप और सुदक्षिणा नंदिनी का दूध ग्रहण करते हैं और उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। इस गुणवान पुत्र का नाम रघु रखा जाता है जिसके पराक्रम के कारण ही इस वंश को रघुवंश के नाम से जाना जाता है। रघु के पराक्रम का वर्णन कालिदास ने विस्तारपूर्वक अपने ग्रन्थ 'रघुवंश' में किया है। अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को चुराने पर उन्होंने इन्द्र से युद्ध किया और उसे छोड़ाकर लाया था। उन्होंने विश्वजीत यज्ञ सम्पन्न करके अपना सारा धन दान कर दिया था। जब उनके पास कुछ भी धन नहीं रहा, तो एक दिन ऋषिपुत्र कौत्स ने आकर उनसे 14 करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ माँगी ताकि वे अपनी गुरु दक्षिणा दे सकें।

रघु ने इस ब्राह्मण को संतुष्ट करने के लिए कुबेर पर चढ़ाई करने का मन बनाया। यह सूचना पाकर कुबेर घबराया और खुद ही उनका कोष भर दिया। रघु ने सारा कोष ब्राह्मण के हवाले कर दिया परन्तु उस ब्राह्मणपुत्र ने केवल 14 करोड़ मुद्राएँ ही स्वीकारी। रघु के पुत्र अज भी बड़े पराक्रमी हुए। उन्होंने विदर्भ की राजकुमारी इन्दुमति के स्वयंवर में जाकर उन्हें अपनी पत्नी बनाया।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujain@gmail.com, vikramadityashodhpeth@gmail.com